शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जून : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, जेष्ठ, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : २

शांति का वेदन

आत्मा की शांति अपने स्वभाव में ही है, पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा न हो और पर के साथ सम्बन्ध हो तो, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, स्वभाव में एकता करके शांति का अनुभव नहीं हो सकता—पर से पृथक् होकर अपने स्वरूप में नहीं समा सकता। पर से विभक्त और स्वरूप में एकाकार होकर आत्मा अपने में ही अपनी शांति का वेदन कर सकता है; अपनी शांति के वेदन के लिये आत्मा को पर का सम्बन्ध नहीं करना पड़ता; क्योंकि अपनी शांति अपने में ही है। इसलिये हे जीव! बाह्य में शांति न ढूँढ़, तेरे अन्तर में ही शांति है,—उसका विश्वास करके अंतर्मुख हो तो अपने में ही तुझे अपनी शांति का वेदन होगा।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८२]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दोनों नयों की सफलता

जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है; अकेले द्रव्यार्थिकनय से या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता। इसलिये दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है। एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया? काहे में किया? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी? इसलिये दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की संधि करने योग्य है। द्रव्य-पर्याय की संधि का अर्थ क्या? पर्याय को पृथक् करके लक्ष में न लेते हुए, अंतर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना, सो द्रव्य-पर्याय की संधि है; वही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प में रुक जाये तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसी में एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर दोनों के विकल्प तोड़कर पर्याय को द्रव्य में अंतर्लीन-अभेद-एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।

[—नियमसार, गाथा १९ के प्रवचन से]

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जून : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, जेष्ठ, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : २

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[अषाढ़ कृष्णा पंचमी, वीर सं० २४८२]

जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा का भान नहीं है—ऐसे अज्ञानी को स्वयं तपश्चरण व्रतादि में खेद लगता है, इसलिये वह मानता है कि ज्ञानी संतों को भी तपश्चरण में खेद होता होगा; उसे ऐसी शंका होती है कि मुक्ति के लिये घोर तप करने वाले ज्ञानी-संतों को भी महा दुःख होता होगा और चित्त में खेदखिन्न रहते होंगे; इसलिये उन्हें मुक्ति कैसे हो सकती है ? उस शंका का समाधान करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृत्तः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अरे भाई ! आत्मा और शरीर के भेदज्ञान द्वारा, चैतन्य में एकाग्र हुए धर्मात्मा तो आनन्द से आह्लादित हैं, वे तो चैतन्य के आनन्द में झूलते हैं, अनाकुल शांतरस के वेदन में डुबकी लगाकर लीन हुए हैं, वहाँ अनेक उपवासादि तपश्चरण सहज ही हो जाते हैं, उनमें उन्हें खेद नहीं होता किन्तु चैतन्य के आनन्द का विषयातीत आह्लाद आता है। अरे ! चैतन्य के अनुभव में दुःख कैसा ?

भगवान ऋषभदेव छह महीने तक ध्यान में ऐसे लीन रहे कि चैतन्य के आनन्द में बीच में आहार की वृत्ति ही नहीं उठी। उसमें कहीं उन्हें दुःख नहीं था। तत्पश्चात् दूसरे छह महीने भी तप किया। लगभग एक वर्ष के उपवास हुए, तथापि परिणाम में किंचित् खेद नहीं था; आत्मा के आनन्द में विशेष लीनता थी। आनन्द में लीनता द्वारा ज्ञानी मुक्ति को साधते हैं। मुक्ति की साधना करते हुए दुःख का अनुभव हो तो उसने मुक्ति के मार्ग को जाना ही नहीं है। मुक्ति तो परमानन्द की प्राप्ति है और उसका उपाय भी आनन्दमय है; उसके उपाय में दुःख नहीं है। बाह्य में चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े, तथापि आत्मा के आनन्द से आनन्दित संतों को किंचित् दुःख या खेद नहीं होता। देह को और संयोगों को अपने से भिन्न जानकर जो आत्मा में ही लीन हुए हैं, उन्हें दुःख कैसा? चैतन्य का स्वभाव ही आनन्द है—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं'—उसके चिंतन में दुःख क्यों होगा? अहो! ज्ञानी को तो आत्मस्वरूप में अंतर्लीनता से अपूर्व आनन्द का अनुभव है, किन्तु संयोगदृष्टिवाले मूढ़ अज्ञानी जीव को ज्ञानी के अंतर की खबर नहीं है। वे मूढ़ता के कारण ऐसा मानते हैं कि प्रतिकूल संयोगों से ज्ञानी को दुःख होता होगा। सिंह आकर ध्यानस्थ मुनि के शरीर को फाड़ रहा हो, वहाँ जिसे ऐसा लगे कि —'अरे रे! इन मुनि को महा दुःख होगा!'—तो वह जीव महामूढ़ है। अरे मूढ़! संत तो अंतर चैतन्यस्वरूप की लीनता से महा सुखी हैं—महा आनन्दी हैं; शरीर को सिंह खा रहा हो उसमें क्या हुआ? शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर, संत तो चैतन्य में लीन होकर आनन्द का ही अनुभव करते हैं। साधक संतों पर उपसर्ग आये तो धर्मात्मा भक्तों को उसे दूर करने की वृत्ति उठे बिना नहीं रहती; किन्तु वहाँ सामनेवाले संतों को दुःखी मानकर वह भाव नहीं आता; अपने राग के कारण—भक्तिभाव के कारण—वह वृत्ति उठती है। संयोग की ओर झुकाव के कारण जिसे राग-द्वेष होते हैं, उसी को दुःख होता है; किन्तु जिन्हें संयोग के प्रति झुकाव नहीं है और स्वभाव की ओर उन्मुख हो गये हैं—ऐसे संतों को राग-द्वेष नहीं होते और चाहे जैसे संयोग से उन्हें दुःख नहीं होता; आनन्द का ही अनुभव है; और इसप्रकार चैतन्य के आनन्द में लीन होकर वे मुक्ति की साधना करते हैं।

शरीर को आत्मा माना, वहाँ शरीर के प्रति ममत्व के कारण ही अज्ञानी दुःखी—खेदखिन्न होता है। किन्तु जहाँ आत्मा को शरीर से भिन्न जाना, शरीर का ममत्व ही छूट गया और चैतन्य में लीनता हुई, वहाँ धर्मी को आनन्द की ही अटूट धारा बहती है; उसमें उसे खेद या दुःख नहीं होता। भेदज्ञानपूर्वक ऐसी तपस्या ही मोक्ष का कारण है।

आत्मा और शरीर का भेदज्ञान करके जहाँ आत्मा में एकाग्र हुआ, वहाँ समस्त बाह्य विषयों की चिन्ता छूट जाती है और अपने परम अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। चाहे जैसे बाह्य संयोगों में भी उनका आनन्द अबाधित रहता है; बाह्य संयोगों की प्रतिकूलता से या व्रत-तप से उन्हें खेद नहीं होता।

❀ ❀ ❀

[आषाढ़ कृष्णा ६, वीर सं० २४८२]

(समाधिशतक, गाथा-३५)

जब तक बाह्य पदार्थों में 'यह मुझे इष्ट और यह अनिष्ट'—ऐसी राग-द्वेष की बुद्धिरूप कल्लोलों से जीव चंचल है, तब तक चैतन्य के आनन्द का अनुभव नहीं होता। जिसका चित्त समस्त बाह्य पदार्थों से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हुआ है; वह जीव, राग-द्वेषादि कल्लोलों से रहित स्थिर है और ऐसे स्थिर चित्तवाला जीव ही परम आनन्दमय आत्मतत्त्व को देखता है, दूसरे नहीं देख सकते—ऐसा अब कहते हैं—

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनाजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

जिसका ज्ञानरूपी जल, राग-द्वेषादि कल्लोलों से अविक्षिप्त है, वह आत्मतत्त्व को देखता है, दूसरे जन उसे नहीं देखते। जिसप्रकार मैले या तरंगयुक्त पानी में पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती; उसीप्रकार जिसका ज्ञानजल, मिथ्यात्वरूपी मैल से या राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से विक्षिप्त है—चंचल है, उसके ज्ञान में आनन्दमय आत्मा का अनुभव नहीं होता।

यह आत्मतत्त्व, राग-द्वेषादि कल्लोलों द्वारा वेदन में नहीं आता। जिसे आत्मा की आराधना में कष्ट होता है, उसने आत्मा को देखा ही नहीं है। परमानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना में कष्ट क्यों होगा? बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट संकल्पों के तरंग से जो डाँवाडोल वर्तता है, उसे आत्मा के आनन्द में लीनता नहीं होती। चैतन्य-सरोवर का जल, राग-द्वेष की तरंगों से डोल रहा है, वहाँ समाधि नहीं होती। राग-द्वेष से परिपूर्ण मनरूपी घट फूटे बिना मन, आत्मा में स्थिर नहीं होता। जिसप्रकार तरंगों से उछलते हुए पानी की गहराई में पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती, उसीप्रकार जिसका ज्ञान जल, मिथ्यात्वरूपी मैल से या राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से विक्षिप्त है—चंचल है, उसके ज्ञान में आनन्दमय आत्मा का अनुभव नहीं होता।

यह आत्मतत्त्व राग-द्वेषादि कल्लोलों द्वारा वेदन में नहीं आता। जिसे आत्मा की आराधना में कष्ट का अनुभव होता है, उसने आत्मा को देखा ही नहीं है। परमानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना में कष्ट क्यों होगा? बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट संकल्पों की तरंगों से जो डाँवाडोल वर्तता है, उसे आत्मानन्द में लीनता नहीं होती। चैतन्य सरोवर का जल राग-द्वेषरूपी तरंगों से डोल रहा है, वहाँ समाधि नहीं होती। राग-द्वेष से परिपूर्ण मनरूपी घट फूटे बिना मन आत्मा में स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार तरंगों से उछलते हुए पानी की गइराई में पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती, उसीप्रकार जिसका ज्ञान जल-राग-द्वेषरूपी तरंगों से उछल रहा है, उसे भीतर विद्यमान आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं होता। राग-द्वेषरहित निर्विकल्प चित्त द्वारा आत्मदर्शन होता है। चिदानन्द तत्त्व में गहराई तक उतरने से राग-द्वेषादि के संकल्प छूट जाते हैं—मनरूपी घट फूट जाता है।

प्रभो! आत्मदर्शन क्या है-उसकी भी तुझे खबर नहीं है, तो शांति या समाधि कहाँ से होगी? अंतर के चैतन्य का निर्विकल्प वेदन न हो, तब तक तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। संकल्प-विकल्पों से विमुख होकर, चैतन्यस्वभाव की ओर झुककर, निर्विकल्प वेदन किये बिना तो सम्यग्दर्शन भी नहीं है; सम्यग्दर्शन के बिना मुनिदशा या व्रत-तप नहीं होते, और मुनिदशा के बिना समाधि नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने से अमुक शांति और समाधि तो हुई है, किन्तु अभी मुनिदशा की विशेष समाधि नहीं है। संल्प-विकल्प रहित चैतन्यतत्त्व का आनन्द जिसके वेदन में नहीं आया, उसे दु:ख और खेद के परिणाम हुए बिना नहीं रहते। निर्विकल्प मन द्वारा आत्मदर्शन होता है; यहाँ 'मन' अर्थात् ज्ञान समझना। ज्ञान जहाँ अन्तर्मुख हुआ, वहाँ निर्विकल्प हो गया, और आत्मा के आनन्द का वेदन होने लगा। वहाँ वह ज्ञान जल राग-द्वेषादि तरंगों से डोलायमान नहीं होता; उसमें राग-द्वेष के विक्षेप नहीं हैं, चैतन्य में स्थिरता है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ा विक्षेप है; रागादि से किंचित् भी लाभ होगा—ऐसी मिथ्याबुद्धि, वह आत्मदर्शन में महान विक्षेप है, उस विक्षेप में अटका हुआ ज्ञान अंतर्मुख होकर आत्मा को नहीं देख सकता। मिथ्यात्व का नाश करके आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के पश्चात् जबतक राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से ज्ञानजल चंचल वर्त रहा है, तबतक निर्विकल्प आनन्द का वेदन नहीं होता। जब ज्ञान उपयोग अंतरोन्मुख होकर, राग-द्वेषरहित निर्विकल्परूप से स्थिर होता है, तब आत्मतत्त्व स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है; राग-द्वेष के विकल्प में युक्त ज्ञान, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता।

अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप की सन्मुखता द्वारा राग-द्वेषादि तरंगें शांत हो जाती हैं। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के बिना अन्य किसी उपाय से राग-द्वेष की तरंगें शांत नहीं होती। बाह्य अनुकूलता के लक्ष से जो शांत परिणाम दिखाई दें, वह सच्ची शांति नहीं है। अंतर्स्वभाव के लक्ष से राग-द्वेष का अभाव होते ही सच्ची शांति होती है। अंतर्मुख उपयोग के समय निर्विकल्पदशा में परमात्मतत्त्व आनन्दसहित स्फुरायमान होता है-प्रगट अनुभव में आता है। ज्यों-ज्यों ऐसा अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों राग-द्वेष छूटते जाते हैं और वीतरागी समाधि होती जाती है; फिर बाह्य में चाहे जैसी प्रतिकूलता या अनुकूलता से भी उसका चित्त चलायमान नहीं होता, स्वरूपलीनता में ऐसा अचिन्त्य आनन्द है, कि उसमें से बाहर नहीं आते ॥३५॥

इसलिए हे जीव! तू अपने मन को अंतर्मुख करके चैतन्यस्वरूप में स्थिर कर—ऐसा अगली गाथा में कहते हैं।

राग-द्वेषरहित होकर चैतन्यस्वभाव के सन्मुख एकाग्र होना ही आत्मा का अविक्षिप्त मन है; वही आत्मा का तत्त्व है; और राग-द्वेष में लगा हुआ मन तो विक्षिप्त है; उसे आत्मा का तत्त्व नहीं मानते। विक्षिप्त मन तो आस्रव-बंध है और अविक्षिप्त मन, वह संवर-निर्जरा है। इसलिये आचार्यदेव, विक्षिप्त मन छोड़कर चैतन्यस्वरूपोन्मुख होकर अविक्षिप्त मन धारण करने को कहते हैं—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

अविक्षिप्त मन, अर्थात् राग-द्वेषरहित अंतर में स्थिर हुआ ज्ञान ही आत्मा का तत्त्व है; और रागादिरूप से परिणत विक्षिप्त मन तो आत्मा का विभ्रम है—वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसलिये हे भव्य! तू उस अविक्षिप्त मन को धारण कर और राग-द्वेष में वर्तते हुए विक्षिप्त मन को धारण न कर।

'अविक्षिप्त मन' अर्थात् निर्विकल्प स्थिरता, वह आत्मतत्त्व है; अंतर में स्थिर निर्मल पर्याय को ही अभेदरूप से आत्मा कह दिया है, और 'विक्षिप्त मन' अर्थात् संकल्प-विकल्प, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; देहादि में आत्मबुद्धि करना, वह भ्रान्ति है; उसे यहाँ विक्षिप्त मन कहा है। पर में आत्मबुद्धिवाले जीव का मन कभी संकल्प-विकल्परहित होकर स्थिर नहीं होता; इसलिये अविक्षिप्त नहीं होता, किन्तु राग-द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है; वह वास्तव में आत्मा का तत्त्व नहीं है। देहादि तथा विकार से भेदज्ञान करके जो जीव आत्मा में ही आत्मबुद्धि करता है, उसका मन

संकल्प-विकल्परहित होकर चैतन्य में स्थिर होता है; वह अविक्षिप्त मन, आत्मा का तत्त्व है। अंतरोन्मुख सम्यक्भाव श्रुतज्ञान को यहाँ अविक्षिप्त मन कहा है तथा उसी को आत्मा कहा है। उस 'मन' को बाह्य विषयों का अथवा जड़ मन का अवलम्बन नहीं है; चैतन्य का ही अवलम्बन है। 'भाव मन भी आत्मा का स्वरूप नहीं है'—ऐसा कहा जाता है, वह तो संकल्प-विकल्प—राग-द्वेषवाले मन की बात है; और यहाँ अविक्षिप्त मन को आत्मा कहा है, वह संकल्प-विकल्परहित होकर अंतर में एकाग्र हुए निर्विकल्प भाव की बात है।

जो आत्मलाभ की इच्छा रखते हों, वे राग-द्वेषवाले विक्षिप्त चित्त को छोड़ें और चैतन्य में ही मन को एकाग्र करके अविक्षिप्त करें। उस अविक्षिप्त मन से आत्मा की प्राप्ति होती है।

बाह्य विषयों में वर्तता हुआ संकल्प-विकल्प सहित मन तो संसार का कारण है और चैतन्य में स्थिर हुआ निर्विकल्प मन, वह मोक्ष का कारण है। बाह्य-विषयों का मनन-चिन्तवन करनेवाला मन, संसार का कारण है और चैतन्य विषय का मनन करनेवाला मन, वह मोक्ष का कारण है। इसलिए चैतन्यस्वरूप में मन को स्थिर करने का दृढ़ प्रयत्न करो—ऐसा पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

जहाँ सुख का अनुभव हो, वहाँ ज्ञान स्थिर होता है... जिसे पर में सुख का अनुभव होता हो, उसका ज्ञान, राग से हटकर स्वभाव में स्थिर नहीं होता। आनन्द तो आत्मा का स्वभाव ही है; इसलिये आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप परिणमित होता है—ऐसा निर्णय करके जो जीव अंतर्मुख होता है, उसका चित्त अविक्षिप्त होता है, वह रागादि से विक्षिप्त नहीं होता। अहा! वास्तविक आनन्द क्या है—उसकी भी जगत के जीवों को खबर नहीं है और भ्रम के कारण बाह्य विषयों में से आनन्द लेने के लिये उस ओर ज्ञान को युक्त करते हैं, इसलिये उनका चित्त सदैव बाह्य विषयों के प्रति राग-द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है। और जिसका चित्त अंतर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ही लगा है, उसका चित्त अविक्षिप्त रहता है, किन्हीं भी विषयों से विक्षिप्त नहीं होता; क्योंकि बाह्य विषयों की ओर उसका झुकाव ही नहीं है। आत्मा का आनन्द 'निर्विषय' अर्थात् बाह्य विषयों से रहित है।

अहा! जहाँ अंतर के आनन्दानुभव में लीन हुआ, वहाँ जगत के बाह्य विषय उसका क्या करेंगे?—जगत का कोई अनुकूल विषय उसे ललचाने में समर्थ नहीं है; तथा चाहे जैसा प्रतिकूल विषय भी उसे डिगाने में समर्थ नहीं है; उसके चित्त में किसी के प्रति राग-द्वेष का विक्षेप ही नहीं रहा है, उसका चित्त समभाव में स्थिर हो गया है। ऐसा अविक्षिप्त चित्त, वह मोक्ष का कारण है;

इसलिए हे भव्य जीवो! आनन्दस्वरूप आत्मा को पहिचान कर उसमें चित्त को स्थिर करो—ऐसा संतों का उपदेश है।

मन किस कारण से विक्षिप्त होता है और उसे किस प्रकार अविक्षिप्त करें, वह अब बतलाते हैं—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥

शरीर ही मैं हूँ—ऐसी जो भ्रमणा है, वह अविद्या है; उस अविद्या के संस्कार के कारण मन पराधीन वर्तता हुआ क्षुब्ध होता है; किन्तु मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे सम्यग्ज्ञानरूप विद्या के संस्कार से मन अपने स्वतत्त्व में एकाग्र होता है और विक्षिप्त नहीं होता।

[वीर संवत २४८२, अषाढ़ कृष्ण ७]

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्रता, सो समाधि है; और राग-द्वेष में एकाग्रता, सो असमाधि है। आत्मज्ञान, वह समाधि का कारण है और अज्ञान, वह असमाधि का कारण है।

देह मैं हूँ; मैं देह को पवित्र रखूँ ऐसी मान्यता, सो अविद्या है; उसके संस्कार से जीव का मन, शरीरादि बाह्य विषयों में ही वर्तता है, किन्तु अविद्या ज्ञानस्वरूप में स्थिर नहीं होता। मैं तो ज्ञायक हूँ; देह से-राग से भिन्न पवित्र ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसे ज्ञानसंस्कार द्वारा मन, आत्मा में स्थिर होता है। (मन—ज्ञान का उपयोग।)

शरीर तो जड़ है; अशुचि का धाम है; अस्थिर है और पर है; तथापि जीव उसी को आत्मा मानता है; उसी को शुचि, स्थिर और अपना मानता है, वह अविद्या है; उस अविद्या के अभ्यास के कारण अज्ञानी का मन, क्षुब्ध होकर बाह्य विषयों में ही वर्तता है। मैं देह से भिन्न, शुचि, स्थिर तथा ज्ञायकस्वरूप हूँ; यह शरीर मेरा नहीं है—ऐसे भेदज्ञान की भावना से अपने चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता होती है, वही समाधि का उपाय है।

जिसे ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है और बाह्य विषयों में (शुभ या अशुभ में) ही जिसका चित्त वर्तता है, उसका चित्त कभी अविक्षिप्त नहीं होता; ज्ञानस्वभाव की भावना के बिना किसी प्रकार शांति नहीं होती। जहाँ बाह्य से लाभ-हानि होने की मान्यता है, वहाँ राग-द्वेष वर्तता ही रहता है। एक ओर ज्ञायकस्वरूप पवित्र आत्मा है और दूसरी ओर समस्त बाह्य विषय हैं..... जो जीव, अंतरोन्मुख होकर बारम्बार आत्मा की भावना करता है, उसे राग-द्वेषरहित उपशांतभावरूप समाधि होती है; और जो जीव बाह्य विषयों की भावना भाता है, उसे राग-द्वेषरूप विक्षेप से

असमाधि ही वर्तती है। इसलिए ज्ञान संस्कार, अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना ही समाधि का कारण है और बाह्य विषयों की भावनारूप अविद्या के संस्कार, वह असमाधि का कारण है।

पहले अंतर्मुख होकर देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन करना, सो अपूर्व विद्या है और वह भी समाधि है। उसे चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वसंवेदन होता है; आनन्द का वेदन ही अविक्षिप्त मन है। आत्मानन्द के वेदन बिना मन से विक्षेप मिटकर समाधि नहीं होती। चैतन्योन्मुख होने पर ज्यों-ज्यों उसके आनन्द का वेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मन में से राग-द्वेषरूप विक्षेप छूटते जाते हैं और वीतरागी शांति-समाधि होती जाती है।

सम्यग्ज्ञान के बाद भी जितने राग-द्वेष हैं, उतना चैतन्य की स्थिरता में विक्षेप आता है। जीव को अनादि से अज्ञानदशा में राग-द्वेष करने की आदत पड़ गई है; उन संस्कारों के कारण मन, चैतन्य में स्थिर नहीं होता। राग-द्वेष का मूल जो अज्ञान है, वह तो दूर हो गया है, तथापि उसके अभ्यास के संस्कारों के कारण अभी राग-द्वेष सर्वथा दूर नहीं हुए हैं। कहीं पूर्व के कारण वर्तमान में राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं है किन्तु वर्तमान में अपने अपराध के कारण स्वयं ही वे संस्कार बना रखे हैं; इसलिये अभी राग-द्वेष होता है। उन राग-द्वेष का नाश किसप्रकार होता है ?—तो कहते हैं कि अपने ज्ञानतत्त्व के दृढ़ संस्कार द्वारा स्वरूप में स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश हो जाता है। आमने-सामने दो संस्कार लिये हैं—एक अविद्या के संस्कार और दूसरे ज्ञान के संस्कार। ज्ञान के उग्र संस्कार, अर्थात् बारम्बार तीव्र रस से उसी का परिचय करना—वह अज्ञान संस्कार के नाश का उपाय है। ज्यों-ज्यों ज्ञान में एकाग्रता होती जाती है, त्यों-त्यों राग-द्वेष के संस्कार छूटते जाते हैं और वीतरागता में वृद्धि होती है; इसलिये जबतक ज्ञान अपने में लीन होकर वीतरागता न हो, तबतक अति दृढ़तापूर्वक ज्ञानतत्त्व की भावना करते रहना चाहिये।

समयसार में कहते हैं कि—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

यह भेदविज्ञान अच्छिन्नधारा से—अखण्ड प्रवाहरूप से विच्छेद पड़े बिना तब तक भाना चाहिये कि जबतक परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।

—इसप्रकार ज्ञान में स्थिरता के अभ्यास द्वारा ऐसी वीतरागी समाधि होती है कि मान-अपमान के प्रसंग में भी उसके चित्त में विक्षेप नहीं होता—ऐसा अब अगली गाथा में कहेंगे॥३७॥

चिदानन्दस्वरूप आत्मा की धर्मकथा

[जलगाँव (खानदेश) में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन; ता० २९-३-५९]

यह चिदानन्दस्वरूप आत्मा की धर्मकथा है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा देह से भिन्न है; उसने अपने स्वरूप को भूलकर पूर्व अनादिकाल में चारगति के अनंत भव किये हैं। यह शरीर तो जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं है, ज्ञानस्वरूप आत्मा उससे भिन्न वस्तु है। यदि शरीर और आत्मा एक हों तो, मोटे ताजे बड़े शरीर में अधिक बुद्धि और दुबले-पतले शरीर में कम बुद्धि—ऐसा होना चाहिये; किन्तु ऐसा तो दिखाई नहीं देता। किसी का दुबला-पतला शरीर होने पर भी विशेष बुद्धि होती है, और कोई स्थूल-विशालकाय होने पर भी अल्पबुद्धि होता है। इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा, देह से बिल्कुल भिन्न वस्तु है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में सर्वज्ञ होने की तथा पूर्ण आनन्द प्रगट होने की शक्ति है; उसका परिचय करना वह अपूर्व पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त बाह्य संयोगों का मिलना तो पूर्व के पुण्य-पाप का फल है। बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री के साथ कहीं धर्म का सम्बन्ध नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! तूने पूर्वकाल में देह से भिन्न अपने आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न कभी एक क्षण भी नहीं किया। स्वर्ग में तू अनन्तबार गया और तीव्र दुष्कर्मों से नारक के अवतार भी अनन्तबार किये; मनुष्य और पशु भी अनन्तबार हुआ; किन्तु चैतन्य तत्त्व के भान बिना कभी शांति प्राप्त न कर सका।

श्रीमद् राजचन्द्रजी—जो सौराष्ट्र में हो गये हैं और सात वर्ष की उम्र में तो उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ था कि पूर्वभव में मैं कहाँ था—१६ वर्ष की उम्र में लिखते हैं कि—

"बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे! भवचक्रनो आंटो नहीं अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो?"

सोलह वर्ष की उम्र तो शरीर की अपेक्षा से है; आत्मा तो सभी अनादिकाल से अभी तक एक समान चले आ रहे हैं। अनन्त जीव आत्मा का भान करके पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट करके मुक्त हुए हैं। वे कहाँ से हुए? आत्मा में शक्ति है, उसी में से हुए हैं। आत्मा को भूलकर ही जीव अनादि

काल से चारगति के चक्र में घूम रहा है। उसमें ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार तथा सत् समागम प्राप्त हुआ, तो हे जीव! अब ऐसा कुछ कर जिससे भवचक्र के फेरे कम हों।

देह से भिन्न आत्मा को लक्ष में लेकर श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि अरे भाई! भवचक्र में भटकते-भटकते तूने ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त किया, और उसमें भवभ्रमण टालने का उपाय यदि तू नहीं करेगा तो तूने क्या किया? बाह्य में सुख नहीं है, सुख तो आत्मा के स्वभाव में है। बाह्य में सुख मानने से आत्मा के स्वभाव सुख का विस्मरण होता है; इसलिये हे जीव! तू यह बात किंचित् तो लक्ष में ले कि बाह्य में सुख नहीं है, अन्तर में ही सुख है। अन्तर में आत्मा को भूलकर बाह्य में सुख मानने से प्रतिक्षण भावमरण होता है, अर्थात् आत्मा के गुणों का प्रतिक्षण घात होने से दुःख उत्पन्न होता है। उस प्रति क्षण होनेवाले भावमरण से बचने के लिये तथा आत्मा का सच्चा सुख प्राप्त करने के लिये तू विचार करके अपने यथार्थ स्वरूप को लक्ष में ले।

ज्ञानस्वरूप आत्मा संयोग से पृथक् है; चाहे जैसे प्रतिकूल संयोगों में भी समाधान करके वह शांति रख सकता है। मान-अपमान की तीव्र वेदना होने पर वह शरीर छोड़कर (आत्मघात करके) भी उस दुःख से छूटना चाहता है; इसलिये उससे यह तो सिद्ध होता है कि शरीर के बिना भी आत्मा को सुख की प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् शरीर में या संयोग में सुख नहीं है किंतु शरीर से तथा संयोग से भिन्न ऐसे आत्मस्वरूप में सुख है; उसका लक्ष करके उसमें स्थिर होना ही सुख का सच्चा उपाय है।

यह चिदानन्दस्वरूप आत्मा को समझने की धर्मकथा है। बाह्य में लक्ष्मी या अधिकार भले हों अथवा विशाल कुटुम्ब-परिवार हो, किंतु उससे आत्मा को क्या लाभ? श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

"लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुम्ब के परिवार थी वधवापणुं अे नय कहो!
वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी जवो,
—अेनो विचार नहीं अहो हो, अेक पल तमने हवो।"

लक्ष्मी, अधिकार या कुटुम्ब-परिवार के बढ़ने से मेरे आत्मा में कुछ वृद्धि हुई है अथवा मुझे कुछ लाभ हुआ है—ऐसा मानना तो भ्रमणा है; उससे संसार में वृद्धि होती है और मनुष्यभव को हार जाते हैं। अरे जीवो! तुम एक क्षण तो इसका विचार करो! आत्मा का अहित क्यों हो रहा है

और उसका हित कैसे हो—उसका तो विचार करो! क्या विचार करें?—तो कहते हैं कि—

''हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वलगणा छे, राखुं के अे परिहरुं?
अेना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिकज्ञानना सिद्धांततत्त्वो अनुभव्यां।''

जिसप्रकार कच्चा चना स्वाद में तूरा लगता है और बोने से उगता है, उसीप्रकार अज्ञानभाव से जीव को आकुलता के स्वाद का वेदन है और वह चार गति के अवतारों में भटकता है; परन्तु जिसप्रकार चने को सेक डालने पर उसका स्वाद मीठा हो जाता है और फिर वह बोने से नहीं उगता; उसीप्रकार चिदानन्दस्वरूप आत्मा का भान करके उसमें स्थिर होने से आत्मा को अपने अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद आता है और वह पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करता। इसलिये इस मनुष्यजीवन में आत्मा को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। अनन्त काल से भ्रान्ति में पड़कर जीव स्वयं अपने आत्मा को दुःखी कर रहा है, कोई दूसरा कोई उसे दुःख देनेवाला नहीं है। अनेक संत-मुनि जंगल में वास करके आत्मा के ध्यान में लीन रहते थे; उन्हें महान उपसर्ग हुए—शेर-चीतों ने फाड़ खाया अथवा किसी ने जीवित जला दिया; अरे! घानी में डालकर पेल डाला! तथापि उन्होंने चिदानन्दस्वरूप में लीन रहकर शांति का वेदन करते-करते केवलज्ञान प्राप्त किया है। इसलिये बाह्य प्रतिकूलता कोई दुःख नहीं है। ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है—उसका श्रवण-मनन करके उसे पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये। जीवों को दूसरे कार्यों के लिये समय मिलता है, किंतु चिदानन्दस्वरूप आत्मा के श्रवण-मनन का समय नहीं निकाल पाते। अरे, स्वर्ग के देव भी स्वर्ग छोड़कर मनुष्य-लोक में धर्म की बात सुनने के लिये तीर्थंकर भगवान के समवसरण में आते हैं। इससमय विदेहक्षेत्र में सीमंधरादि तीर्थंकर भगवान विराजमान हैं; उनकी धर्मसभा में स्वर्ग के इन्द्र भी धर्म श्रवण के लिये आते हैं; इसलिये रुचि तथा उत्साहपूर्वक चैतन्य की बात सुनना चाहिये और उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिये। एक क्षण भी आत्मा का भान करने से अनंत काल के जन्म-मरण का अन्त आ जाता है और अनादिकाल से जिसका कभी अनुभव नहीं किया है, ऐसी अपूर्व शांति का वेदन होता है। वर्तमान में रागदशा-गृहस्थदशा होने पर भी श्रद्धा, ज्ञान में से उसका आदर छोड़कर अंतरंग में चिदानन्दरूप निज परमात्मा का अनुभवनरूप ज्ञान हो सकता है।

लींबडी शहर के पंचकल्याणक-प्रवचन

(अंक १८० से आगे)

(वीर सं० २४८४, वैशाख शुक्ला १० से १३)

चारित्र की महिमा का झरना और आनन्द-रस का पेय

लींबडी शहर में पंचकल्याणक के समय, भगवान की दीक्षा के पश्चात् दीक्षावन में यह प्रवचन हुआ था। गुरुदेव अद्भुत वैराग्यपूर्वक चारित्रदशा की महिमा का झरना बहा रहे हैं—

अहा, चारित्र! धन्य वह दशा! गणधर जिसे ग्रहण करते हैं, इन्द्र और चक्रवर्ती जिसके चरणों में मस्तक झुकाते हैं—वह दशा कैसी होगी! जिसे दु:ख से मुक्त होना हो, उसे ऐसी दशा प्रगट करना ही होगी। पद्मनन्दिस्वामी कहते हैं कि—हे नाथ! आपने केवलज्ञाननिधि प्रगट करके बतला दी, चैतन्य के अपार निधान आपने प्रगट दिखला दिये, तो अब कौन ऐसा है कि इस चैतन्यनिधान की तुलना में इन्द्रासन को भी तृण समान समझकर दीक्षित नहीं होगा? मुनिवर आत्मरस में निमग्न होकर निर्विकल्प आनन्द का पेय पीते हैं। जिसप्रकार पूर्णिमा का चन्द्र समुद्र को उछालता है, उसीप्रकार चैतन्य के ध्यान द्वारा मुनिवर अन्तरंग आनन्द सागर को उछालते हैं। अहा, उस आनन्दानुभव के निकट इन्द्र का वैभव तो क्या, तीन लोक का वैभव भी अत्यन्त तुच्छ है।

ज्ञानी आनन्द-वीणा बजाते हैं

सम्यक्त्वी ने भी अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर उसके अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद चख लिया है, और वह जानता है कि मेरे इस स्वभाव-आनन्द के निकट जगत के समस्त विषय अत्यन्त तुच्छ हैं। अन्तर में एकाग्र होकर ज्ञानी आनन्द के तार की वीणा बजाते हैं, उससे ध्वनि निकलती है कि—

कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ,
अपने रस से भर्यो अनादि टेक हूँ;
मोह करम मम नाहीं नाहीं भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है।

अन्तर में नि:शंकरूप से चैतन्य वीणा के तार झनझनाकर धर्मात्मा के हृदय में से ध्वनि उठती है कि—मैं तो सदा अपने ज्ञान और आनन्द रस से भरा हुआ एक हूँ; यही अनादिकालीन टेक

है। मोह मेरे स्वरूप में नहीं है, शुद्ध चेतना का सागर ही मेरा रूप है। प्रथम ऐसा भान करने के पश्चात् ही उसमें लीनता द्वारा मुनिदशा हो सकती है। भगवान आदिनाथ को ऐसा अन्तर्भान अनेक भव पहले हुआ था, और इस भव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपरान्त चारित्र की आराधना पूर्ण करके परमात्मा हुए।

मुनिवरों की उदासीनता

मुनिवरों की परिणति एकदम अन्तर्स्वभाव में ढल गई है, इसलिये जगत की ओर से वे अत्यन्त उदासीन हो गये हैं। जैसे—बीस वर्ष के इकलोते पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उसकी माता अत्यन्त उदास-उदास हो जाती है; उसीप्रकार जिनका मोह मर गया है, ऐसे मुनिवर संसार से एकदम उदासीन हो गये हैं। दृष्टान्त में माता की उदासीनता तो मोहकृत है, जबकि मुनिवरों की उदासीनता तो निर्ममत्व के कारण है; माता, पुत्र प्रेम के कारण उदास हुई है, तो मुनि चैतन्यप्रेम के कारण संसार से उदासीन हुए हैं।

धन्य वह काल! धन्य वह आनन्द धारा!

आदिनाथ भगवान दीक्षा लेने के पश्चात् छह महीने तक वन में ध्यानस्थ रहे। अहा, धन्य वह काल!—जब पाँच सौ धनुष उन्नत आदिनाथ मुनिराज नग्नदशा धारण करके छह महीने तक वन में ध्यान कर रहे होंगे... कैसा होगा वह दृश्य! पुराणों में उसका अद्भुत वर्णन आता है। वन के पशु—सिंह तथा हिरन भी आश्चर्य से भगवान की ओर देखते रह जाते हैं और उनकी शांत छाया में एक साथ बैठकर विश्राम करते हैं! भगवान तो अपने ध्यान में लीन हैं, अन्तर की आनन्दधारा में निमग्न हैं। चारित्रदशा कोई असिधारा नहीं है, वह तो आनन्द की धारा है; बाह्यदृष्टि से देखनेवाले कायर जीवों को वह असिधारा मालूम होती है, किन्तु अन्तर में तो आनन्द की धारा है। यदि चारित्रदशा में आनन्द की धारा न हो और दु:ख हो तो कौन उसे ग्रहण करेगा?! चारित्र तो निराकुल शान्ति के वेदनरूप स्वरूपस्थिरता है और स्वरूपस्थिरता में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है।—ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती।

सन्त बिना भवअन्त नहीं

'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।'

—ऐसे अपने सिद्धस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान तो सम्यग्दृष्टि को गृहस्थदशा में भी होता है; किन्तु उस सिद्धपद के साक्षात् साधक तो चारित्रधर मुनिवर हैं। जहाँ स्वरूप की अत्यन्त लीनता

द्वारा कषायें अतिशय क्षीण हो गई हों, बारम्बार निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में एकाग्र होते हों—ऐसी सन्तदशा के बिना भव का अन्त नहीं आता।

मोक्षमार्ग

पंचास्तिकाय में वीतरागचारित्र को ही साक्षात् मोक्षमार्ग कहा है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना वीतरागचारित्र नहीं होता, इसलिये वीतरागचारित्र में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी साथ आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन द्वारा तो दर्शनमोह का नाश होता है, और उसके पश्चात् स्वरूप स्थिरतारूप चारित्र द्वारा चारित्रमोह का नाश होता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी संक्षेप में यह बात बतला दी है कि—

'कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम;
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम।'

मोहकर्म के नाश का यह अचूक उपाय है कि 'बोध' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान द्वारा तो दर्शनमोह का हनन होता है और वीतरागता द्वारा चारित्रमोह नष्ट हो जाता है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा की दशा

जिन्हें देह से भिन्न चिदानन्दतत्त्व का भान हुआ है तथा उस सम्यग्भान द्वारा जिन्होंने दर्शन -मोह का तो नाश कर दिया है—ऐसे धर्मात्मा फिर स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा की भावना भाते हैं—

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्य नुं भान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीओ,
वर्ते अेवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो...
अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?

ज्ञानी को सम्यक् आत्मभान होते ही अन्तर में निःशंकता आ गई है कि—हमारे आत्मा में से मिथ्यात्व का नाश हो गया है, और देह से भिन्न जो चैतन्यतत्त्व ध्यान में लिया है, उसमें एकाग्रता से चारित्रमोह भी अब अल्पकाल में क्षीण हो जायोगा। आत्मा का अपूर्व भान हो जाये और अंतर से भवअन्त की भनक न आये, ऐसा नहीं होता। ज्ञान होते ही धर्मी की दशा फिर जाती है, सारी परिणति एकदम बदल जाती है—

ज्ञान कला जिसके घट जागी....
ते जगमांहिं सहज वैरागी...
ज्ञानी मगन विषय सुखमांही—
यह विपरीत सम्भवै नाहीं।

जिसके घट में ज्ञानकला जागृत हुई, जिसके अंतर में चैतन्य के आनंद का वेदन हुआ, वह धर्मात्मा फिर इन्द्रिय विषयों के सुख में मग्न रहे, ऐसी विपरीत बात कभी सम्भव नहीं होती। चैतन्य के आनन्द का अनुभव होते ही बाह्यविषयों के प्रति सहज वैराग्य हो जाता है, क्योंकि परिणति का वेग अन्तरोन्मुख हो गया है। इसलिये वह बाह्य विषयों की ओर से सकुचित होने लगी है। ज्ञानी की ऐसी सहज अन्तर्परिणति को अज्ञानीजन बाह्य से नहीं जान सकते। समयसार में कहते हैं कि—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्यशक्तिः।

सम्यग्दृष्टि को नियम से ज्ञानवैराग्य शक्ति होती है, क्योंकि स्व-पर का भेद जानकर वह स्वरूप में रहने के लिये स्वरूप की ओर झुकता जाता है और पर से तथा राग से पृथक् होता जाता है। जब से सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से ऐसी दशा हो जाती है; तब फिर मुनि होने के बाद की तो बात ही क्या ?—वे तो निजस्वरूप में विशेष स्थिर हो गये हैं और उनके अधिकतर परभाव छूट गये हैं। मात्र संज्वलन का अतिअल्प राग शेष रहा है, उसे छेदते ही केवलज्ञान को प्राप्त होंगे।

भान करके... भावना करो

अहो जीवो ! ऐसी परम शांत मुनिदशा को पहिचानकर उसकी भावना तो करो। जो राग से धर्म मानते हैं, उनकी तो भावना ही मिथ्या है, उन्हें वीतरागता की सच्ची भावना नहीं है किन्तु राग की ही भावना है, इसलिये उन्हें मुनिदशा की सच्ची भावना नहीं होती। जहाँ सच्ची भावना भी नहीं है, वहाँ वह मुनिदशा तो कहाँ से होगी ? मुनिदशा की या केवलज्ञानादि की सच्ची भावना सम्यग्दृष्टि को ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीव भगवान का दास होने के कारण जगत से उदास है, अन्तर की चैतन्य लक्ष्मी से सम्पन्न वह जगत के समक्ष अयाचक है। जगत से मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरा सर्वस्व मेरे अन्तर में ही है—ऐसे भानपूर्वक वह अपने निजस्वरूप को साधता है। जिन जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, वे अपने निजस्वरूप को साध-साधकर ही मोक्ष गये हैं, इसलिये समस्त जीवों को निजस्वरूप का भान करके उसी की भावना करना चाहिये।

केवलज्ञान-कल्याणक का प्रवचन

(वैशाख शुक्ला-१२)

आज प्रातःकाल भगवान आदिनाथस्वामी का दीक्षा-कल्याणक हुआ था। दीक्षा के बाद अन्तरंग-निज कारणपरमात्मा को उग्र आलम्बन द्वारा चैतन्यानन्द में लीनता करके भगवान ने केवलज्ञान प्रगट किया और सर्वज्ञ परमात्मा हुए। उन सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान विषयों की प्रतिबद्धता से रहित सर्व को प्रत्यक्ष जाननेवाला है। पहले आत्मज्ञानसहित साधकदशा में पूर्णस्वभाव को साधने का विकल्प था, तब उसके निमित्त से पुण्यबन्ध हुआ, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ, और अब केवलज्ञान होने पर उस प्रकृति का उदय आया, तब दिव्यध्वनि खिरी। दिव्यध्वनि में भगवान ने क्या उपदेश दिया-उसकी यह बात है।

दिव्यध्वनि में भगवान का उपदेश

भगवान ने स्वभावोन्मुख होकर तथा पर की उपेक्षा करके आत्मा के परमात्मपद को साधा और उनकी वाणी में भी पर की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख होना ही आया। इस जगत में नव तत्त्व हैं; जीवतत्त्व ज्ञानस्वरूप है; ज्ञानरहित ऐसे पाँच प्रकार के अजीवतत्त्व हैं; शुभ रागादि की वृत्ति, सो पुण्यतत्त्व है; हिंसादि की वृत्ति सो पापतत्त्व है; जिनके निमित्त से कर्म आयें और बँधें—ऐसे मिथ्यात्वादि भाव, वह आस्रव तथा बंधतत्त्व है। आत्म-स्वभावोन्मुख होने पर निर्मल पर्याय प्रगट हो और कर्म तथा मिथ्यात्वादि भाव अटकें, वह संवरतत्त्व है; शुद्धता की वृद्धि होती जाये और अशुद्धता तथा कर्म झरते जाये, वह निर्जरातत्त्व है; और संवर-निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञानानन्ददशा प्रगट हो जाये वह, मोक्षतत्त्व है। जगत में ऐसे नवतत्त्व हैं, उन्हें भगवान ने प्रत्यक्ष जाना है और उनका यथावत् वर्णन किया है।

भगवान की वाणी सहज, बिना इच्छा के, एक साथ सर्व रहस्यों को लेकर प्रगट होती है। साधारण मनुष्यों की भाँति भगवान क्रमानुसार शब्द नहीं बोलते, किन्तु ॐकाररूप निरक्षरी ध्वनि खिरती है। भगवान के ओष्ठ नहीं चलते, किन्तु सर्वांग से निरक्षरी ध्वनि बहती है; मेघ गर्जन की भाँति अत्यन्त मधुर ध्वनि निकलती है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति भरी है; उसे भूलकर अज्ञान से संसार परिभ्रमण में अनंतकाल व्यतीत किया है; परन्तु अंतरंग ज्ञानपूर्वक परमात्मपद की साधना में कहीं अनंतकाल

नहीं लगता; साधक तो असंख्य समय के काल में ही परमात्मपद को साध लेते हैं। परमात्मा के चरणों में इन्द्र भी अत्यन्त भक्ति से नतमस्तक हो जाते हैं कि—हे नाथ! धन्य है आपकी इस चैतन्यऋद्धि को! आपकी चैतन्यऋद्धि के निकट हम अपनी इन्द्रपद की ऋद्धि को तुच्छ तृणसमान समझते हैं। धर्मराजा तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि झेलकर धर्म मंत्री गणधरदेव ने जो अंगपूर्वरूप शास्त्रों की रचना की है, उनमें 'ज्ञान प्रवाद' नाम का पाँचवाँ पूर्व है; उसमें से कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार की रचना की है।

आचार्यदेव, भगवान की कही हुई तथा स्वयं अनुभव की हुई भेदज्ञान की बात करते हैं—

भगवान ने दिव्यध्वनि में जो कुछ कहा है तथा स्वयं अंतर में जिसका अनुभव किया है, वही आचार्यदेव ने इस समयसार में कहा है। उसमें आचार्य भगवान कहते हैं कि—मैं ज्ञायक स्वभाव हूँ; रागादिभाव मेरे स्वभाव से भिन्न हैं, वे मुझे शरणभूत नहीं हैं—ऐसा भेदज्ञान जब करे, तब जीव ज्ञानी होता है अर्थात् तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है; ऐसे भेदज्ञान के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव और रागादि परभाव—इन दोनों का यथार्थ भेदज्ञान होते ही आत्मा, रागादि परभावों से निवृत्त होकर अपने ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्त होता है। वास्तव में तो जब अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव में एकत्वरूप से परिणमित हुआ, तभी राग और आत्मा का भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञान होने के काल में 'यह आत्मा है और यह राग है'—इसप्रकार कहीं दोनों का लक्ष नहीं होता; उस काल तो उपयोग को अंतर्मुख करके ज्ञानस्वभाव में एकत्वरूप से परिणमित होता है और राग में एकत्वरूप से परिणमित नहीं होता। इसप्रकार अंतर्मुख उपयोग द्वारा आत्मा और राग का भेदज्ञान प्रगट होता है।

उपयोग को अंतर्मुख कैसे करना ?

चैतन्यस्वभाव का तीव्र प्रेम (रुचि) जागृत हो, तब उपयोग उस ओर ढले बिना नहीं रहता। प्रथम गुरुगम से चैतन्यस्वभाव का श्रवण करके उसके अतिशय बहुमानपूर्वक बारम्बार अभ्यास करने से उपयोग उस ओर ढल जाता है। जिसे चैतन्यस्वभाव का सच्चा प्रेम जागृत हो, उसका उपयोग उसमें ढले बिना नहीं रहता। जिसे चैतन्य की सच्ची महिमा और रुचि जागृत हो, उसकी परिणति को चैतन्य से विरुद्ध ऐसे परभावों में चैन नहीं पड़ता; इसलिये परिणति वहाँ से विमुख होकर अंतर्स्वभावोन्मुख हो ही जाती है। उसके लिये अपूर्व रुचिपूर्वक उसका सतत प्रयत्न चलता ही रहता है।

भगवान के उपदेश का सार

उपयोग को अंतर्मुख करना ही भगवान के उपदेश का सार है। उपयोग को चैतन्यस्वभाव में युक्त करने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है और यही भगवान का उपदेश है।

(वैशाख शुक्ला-१३)

'जिनप्रतिमा-जिनसारखी'

आज प्रातःकाल भगवान आदिनाथ कैलाशपर्वत से मोक्ष पधारे और देवों ने भगवान का निर्वाणकल्याणक मनाया। इस प्रकार भगवान के पंचकल्याणक समाप्त हुए और जिन मन्दिर में उनकी प्रतिष्ठा हुई।

इन्द्र तीर्थंकर भगवान के पंचकल्याणक मनाते हैं; उन साक्षात् पंचकल्याणकों की तो बात ही क्या! यहाँ तो स्थापना के रूप में पंचकल्याणक होते हैं। जो साक्षात् भगवान को जानता है, उसे भगवान की स्थापना के प्रति भी बहुमान आता है। शास्त्र में जिनप्रतिमा को जिनसमान कहा है—

'कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिनप्रतिमा प्रमाणै जिनसारखी।'

अकेली प्रतिमा की बात नहीं है; किन्तु प्रतिमा में जिनकी स्थापना है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान के स्वरूप को जो यथार्थरूप से जानता है, उसकी भवस्थिति अल्प ही होती है। साक्षात् जिनदेव सर्वज्ञ परमात्मा कैसे होते हैं, उसका जिसे लक्ष हो—पहिचान हो—वही जिनप्रतिमा को देखकर ऐसा स्मरण कर सकता है कि 'अहो! जिनेन्द्र भगवान ऐसे होते हैं।'—इसप्रकार जिनप्रतिमा को देखकर जिनेन्द्रदेव के स्वरूप का स्मरण होता है और उससे आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष में आता है। शुद्धस्वरूप को लक्ष में लेनेवाले जीव को अधिक भव नहीं होते। शुद्धस्वरूप को लक्ष में लिये बिना मात्र जिनबिम्ब के दर्शन से पुण्य बंध होता है, किन्तु भवस्थिति नहीं घटती।

धर्मी के अन्तर में सिद्धों की स्थापना

धर्मी जीव ने अपने आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना की है। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही परमार्थतः मेरा आत्मा है—ऐसी प्रतीति करके आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है। आत्मा में सिद्धों को स्थापित करके सिद्धि के पंथ का प्रारम्भ किया है। अब अल्पकाल में वह स्वयं ही सिद्ध परमात्मा हो जायेगा।

आत्मा में अरिहंत को स्थापित करे, वह अरिहंत होता है।

देखो, इस लींबड़ी शहर के जिन मन्दिर में पार्श्वनाथ आदि भगवन्तों की स्थापना के प्रसंग पर आत्मा में भी सिद्ध भगवन्तों की स्थापना की बात आई है। 'विकार जितना ही मैं हूँ'—ऐसा मानकर अनादिकाल से आत्मा में विकार की प्रतिष्ठा की थी। उसके बदले विकार से भिन्न आत्म स्वभाव को जानकर, विकारी भावों की आत्मा में प्रतिष्ठा न करके, 'सिद्धसमान सदा पद मेरा'—इसप्रकार आत्मा में सिद्धभगवान की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। श्री अरिहंतभगवान ने भी 'विकार मैं नहीं हूँ, अखण्ड चैतन्यस्वभाव सो मैं हूँ'—ऐसे ज्ञान द्वारा अपने आत्मा में चैतन्य स्वभाव की प्रतिष्ठा की और फिर उसमें लीनता से राग-द्वेष को दूर करके वे सर्वज्ञ अरिहंत हुए। उनकी यह स्थापना हुई है। वास्तव में तो अरिहन्त भगवान की स्थापना करनेवाले को अपने आत्मा में अरिहंत भगवान जैसे भाव को स्थापित करना चाहिये, उनसे विरुद्ध भाव को नहीं। जो जीव अपने आत्मा में अरिहंत भगवान की स्थापना करता है, वह भी अल्पकाल में अरिहंत बन जाता है।

कौन विद्वान ऐसा कहेगा ?

गुरुचरणों के समर्चन से उत्पन्न हुई निज महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान कहेगा कि—'यह परद्रव्य मेरा है ?'

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्यनासमुद्भूतम॥१३२॥

[-श्री पद्मप्रभ मुनिराज]

आनन्दमय होना हो तो....

हे भाई! तुझे अपने आत्मा का पता लगाना हो, अपनी अनंतशक्ति की ऋद्धि को देखना हो... आनन्दमय बनना हो... तो अपने ज्ञान को राग से पृथक् करके अन्तरोन्मुख कर।

संत आत्मप्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं

हे जीवो! भेदज्ञान द्वारा स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही परम आनन्दरूप परिणमित होओ!

[बम्बई में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के निमित्त से, तथा दक्षिण के तीर्थों की ससंघ यात्रा के निमित्त से पूज्य गुरुदेव ने सोनगढ़ से पौष शुक्ला ६ के दिन प्रस्थान किया, उससे एक दिन पूर्व का भावभीना प्रवचन]

आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त होता है?—वह बतलाकर, अब इस प्रवचनसार को समाप्त करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीवो! आज ही अन्तर्मुख होकर ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करो! मैं एक सुविशुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मा हूँ—ऐसा तुम आज ही अनुभव करो... चैतन्य के अनुभव से आज ही परम आनन्दरूप परिणमित होओ!

चैतन्यरूप स्वतत्त्व को चूककर, बाह्य पदार्थों के साथ की मैत्री से जीव को अनादि से संसारभ्रमण हो रहा है; उस संसारभ्रमण से कैसे छूटें—वह बतलाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि अपने चैतन्यतत्त्व को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर, अकेले स्वद्रव्य के साथ ही मैत्री करो... और परद्रव्य की मैत्री छोड़ो.... उसके साथ की एकताबुद्धि छोड़ो... उसका आश्रय छोड़ो... स्वद्रव्य का आश्रय कर के आज ही परमानन्दरूप से परिणमित होओ...

आह्लादपूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि—हमने तो चैतन्य के परम-आनन्द को प्राप्त किया है और जगत भी आज ही चैतन्य का अनुभव करके परमानन्दरूप से परिणमित होओ...

शास्त्र को पूर्ण करते हुए आचार्य भगवान आशीर्वाद देते हैं;—किसे? जगत में जो जीव इस बात को झेले उसे! जगत के आत्मार्थी जीवों को आचार्यदेव का आशीर्वाद है कि हे जीवो! तुम अपने परमानन्द को प्राप्त करो। हमने जो उपाय कहा है, उससे तुम अवश्य परमानन्द को प्राप्त करोगे ही।

कलश द्वारा आचार्यदेव कहते हैं कि—निर्भर आनन्द अमृत से उल्लसित ऐसे इस स्वतत्त्व को जिनशासन के वश होकर प्राप्त करो... चैतन्यतत्त्व केवलज्ञानरूपी सरिता में डूबा है और वह केवलज्ञान सरिता आनन्द से छलक रही है; अर्थात् चैतन्यतत्त्व परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरा है... उसे अन्तर्मुख होकर हे जीवो! तुम आज ही प्राप्त करो... भगवान सर्वज्ञदेव के मार्ग की

आराधना करने से ज्ञानानन्दस्वरूप उल्लसित स्वतत्त्व की प्राप्ति होती है... हे जीवो... इस शास्त्र द्वारा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर, एक परिपूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके 'आज' अव्याकुलरूप से नाचो... आज ही परम आनन्दरूप से परिणमित होओ। स्व-पर की एकत्वबुद्धि करके मोह से न नाचो परन्तु स्व-पर का भेदज्ञान करके आनन्द से नाचो... आनन्दरूप से परिणमित होओ...

अब अन्तिमकलश में आचार्यदेव प्रमोदपूर्वक कहते हैं कि अहो! चैतन्यतत्त्व का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय हमने अमंदरूप से... जोर से... स्पष्टरूप से कहा है... परन्तु चैतन्य की कोई परम अचिन्त्य महिमा ऐसी है कि उसके निकट तो यह सब कथन 'स्वाहा...' हो जाता है... यह चैतन्यतत्त्व वचन और विकल्प से अगोचर स्वानुभवगम्य है। ऐसे परम महिमावंत चैतन्यतत्त्व का चैतन्य द्वारा ही (राग द्वारा या वचन द्वारा नहीं किन्तु चैतन्य द्वारा ही) आज ही अनुभव करो... 'फिर करेंगे'—ऐसा विलम्ब न करो... किंतु आज ही अनुभव करो। लोक में यह चैतन्यतत्त्व ही परम उत्तम है; इस लोक में अन्य कुछ भी उत्तम नहीं है; इसलिये ऐसे स्वतत्त्व का उग्ररूप से आज ही अनुभव करो...

स्वतत्त्वप्राप्तिपंथदर्शक संतों को नमस्कार हो!

'.....आत्मा कभी नहीं छोड़ता'

आत्मा देह से और विकार से पृथक् रहता है, किन्तु अपने स्वभावरूप ज्ञानमात्र भाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जिसप्रकार मिसरी मैल को छोड़ती है किन्तु मिठास को नहीं छोड़ती; अग्नि धुएँ को छोड़ती है किन्तु उष्णता को नहीं छोड़ती; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा रागादि विकार भावों को छोड़ता है किन्तु अपने ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता। इसलिये ज्ञानभाव द्वारा अपने आत्मा को लक्ष में लेकर आत्मा की प्रसिद्धि कर... आत्मा का अनुभव कर।

निजभाव को छोड़े नहीं; परभाव को न ग्रहण करे,
जाने-देखे जो सर्व सो मैं,—यहै ज्ञानी चिंतवे।

स्व के साथ जोड़ा, उसने पर से तोड़ा

जिस आत्मा को संसार-बंधन का त्रास लगा हो और जो अपने आत्मा को बंधन से छुड़ाना चाहता हो, उसकी यह बात है। वह जीव आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर जगत के साथ का सम्बन्ध तोड़ देता है। वह इसप्रकार—

मैं ज्ञायकस्वभावी आत्मा; जगत के पदार्थों से मैं अत्यन्त भिन्न; मैं किसे सन्तुष्ट करूँ? अथवा किससे सन्तुष्ट होऊँ? जगत जगत में है और मैं अपने में; मैं ज्ञान और पदार्थ ज्ञेय; ज्ञेय ज्ञेयरूप से उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव में परिणमित हो रहे हैं; मैं अपने ज्ञानस्वभाव में ही स्वकीय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से परिणमित होऊँ!—ऐसा निर्णय करके धर्मी जीव ज्ञानस्वभाव के आश्रित ही निर्मल भाव से परिणमित होता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव में उपयोग को लगाने से पर के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है और एकत्व स्वभाव की भावना में लीन ऐसा वह आत्मा पर के साथ का सम्बन्ध अत्यन्त तोड़ कर सिद्धपद को प्राप्त करता है।

[—प्रवचनसार गाथा १०१ के प्रवचन से]

जैनधर्म का प्राण

सर्वज्ञता जैनधर्म का प्राण है। जिसप्रकार प्राण के बिना जीवन नहीं होता, उसी प्रकार सर्वज्ञ के निर्णय के बिना जैनधर्म नहीं होता।

आगम की आज्ञा

[श्री प्रवचनसार गाथा २३२ के प्रवचन से]

(वीर सं० २४८५, मगसिर शुक्ला ५)

यह मोक्षमार्ग की बात है। मोक्षमार्ग कैसे होता है ?—कहते हैं स्वरूप में एकाग्रता से। एकाग्रता कब होती है ?—तो कहते हैं पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करे तब। और वह निश्चय आगम द्वारा होता है—यह बात २३२ वीं गाथा में कहते हैं:—

एकाग्र्यगतः श्रमणः एकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा॥२३२॥

आगम का अभ्यास वह पदार्थों के निश्चय का कारण है। आगम पदार्थों के स्वरूप का कैसा निश्चय कराता है ? अर्थात् मोक्षार्थी को आगम द्वारा पदार्थों के स्वरूप का कैसा निश्चय करना चाहिये ?—सो कहते हैं। स्व-पर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का निश्चय करके स्वोन्मुख होने की आगम की आज्ञा है। आगम द्वारा 'यह स्व है और यह पर है'—ऐसा यथार्थ निर्णय करने से पर के साथ एकता बुद्धिरूप मोह का नाश होता है और एक स्वतत्त्व में ही एकताबुद्धि होकर उसमें एकाग्रता होती है। इसप्रकार आगम द्वारा पदार्थों का निश्चय करने से 'एकाग्रता' होती है।

सम्यग्दर्शन भी पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करके एकाग्रता द्वारा होता है। मैं ज्ञायक हूँ और सर्व पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं—इसप्रकार स्व-पर की भिन्नता का निश्चय करके स्व में एकाग्र होना ही सम्यग्दर्शनादि का उपाय है तथा वही मोक्षमार्ग है। इसप्रकार आगम द्वारा पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करना ही मुख्य उपाय है; मार्ग की अन्य कोई गति नहीं है। आगम के अभ्यास द्वारा स्व-पर के भेद का जिसे निश्चय नहीं है, वह स्थिर काहे में होगा ? इसलिये आगम का अभ्यास मुख्य कहा है।

प्रश्नः—आगम तो परद्रव्य है, फिर उसमें वर्तने को क्यों कहा है ?

उत्तरः—आगम की आज्ञा क्या है ? आगम की आज्ञा तो ऐसी है कि स्व-पर को भिन्न जानकर तू स्वोन्मुख हो। पराश्रय में अटक जाने की आगम की आज्ञा नहीं है किन्तु स्वाश्रय में ढलने की आज्ञा है। आगम का ऐसा आशय समझकर जो जीव स्वाश्रयी बनता है, उसी ने आगम का यथार्थ अभ्यास किया है और उसी को स्वरूप में एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग होता है; अन्य को नहीं होता।

पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हुए बिना सन्देह दूर नहीं होता, और सन्देह में झूलता हुआ वीर्य स्वरूप में स्थिर नहीं होता; नि:शंक निर्णय के बिना वीर्य का वेग स्वरूपोन्मुख नहीं होता, और स्वरूपोन्मुख हुए बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होता।

आगम सर्व पदार्थों का निश्चय कराता है। कैसे हैं पदार्थ? त्रिकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप हैं। जगत के समस्त पदार्थ त्रिकाल निज-स्वरूप से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं; कोई दूसरा उनकी पर्याय के उत्पाद-व्यय नहीं करता; इसलिये आत्मा पर का कुछ करे या परवस्तु आत्मा का कुछ करे—ऐसा कभी नहीं होता। इसप्रकार आत्मा को पर के साथ किंचित् कर्ताकर्मपना नहीं है; आत्मा ज्ञायकस्वभावी ही है।—ऐसे स्व-पर के यथार्थ ज्ञान से आगम का अन्तरंग गम्भीर है; आगम के गहरे उदर में समस्त स्व-पर पदार्थों का ज्ञान भरा है; इसलिये वास्तव में आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता। आगम के ज्ञान द्वारा स्व-पर का यथार्थ निश्चय होता है। सर्व प्रथम ऐसा निश्चय करना, वह मोक्षमार्ग का मूल है; क्योंकि ऐसे निश्चय के बिना एकाग्रता नहीं होती; और एकाग्रता के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता।

आगम स्व-पर की भिन्नता का निर्णय कराके स्व-वस्तु में निवास कराता है। अपना घर कौन-सा है, यह जाने बिना निवास कहाँ करेगा? कोई पर गृह को अपना मानकर उसमें रहने जाये तो लोक में अपराधी माना जाता है; उसीप्रकार जो परवस्तु को अपनी मानकर उसमें रहने जाता है (-परवस्तु का कर्ता बनता है), वह अज्ञानी है; वह स्वगृह को भूलकर अनादि से संसार में भटकता है। आगम उसे अपना निजगृह बतलाकर उसमें निवास कराता है और संसारवास छुड़ाता है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—आगम द्वारा सर्व पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय करो।

—ऐसा निश्चय करने से सन्देह छूट जाता है; पर में कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है और जीव पर से विमुख होकर स्वोन्मुख होता है; स्वोन्मुखता के पश्चात् मोक्षमार्ग होता है;—ऐसी एकाग्रता के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये मुमुक्षुओं को सर्वज्ञ भगवान-कथित आगम की आज्ञानुसार स्व-पर समस्त पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करने में निष्णात होना चाहिये। ऐसा करने से स्वरूप में एकाग्रता होकर मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

शांतिनाथ धाम में आत्मशांति का उपाय

रामटेक में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

रामटेक में ९ दि० जिनमन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर में श्री शांतिनाथ भगवान की १६ फुट ऊँची भव्य प्रतिमा शांत मुद्रा में विराजमान हैं। वहाँ पूजा-भक्ति के पश्चात् पूज्य गुरुदेव का भाववाही प्रवचन हुआ था।

(चैत्र शुक्ला दूज, ता० १०-४-५९)

यह पद्मननिद पंचविंशतिका शास्त्र की वचनिका हो रही है। ९०० वर्ष पहले पद्मनन्दि नाम के महान वनवासी दिगम्बर संत ने आत्मा के आनन्द की भूमिका में झूलते-झूलते इस शास्त्र की रचना की है। आत्मबोध के बिना चार गति में फँसे हुए जीवों को आत्मबोध कराने के लिये उन्हें इस शास्त्र में शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाया है। निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि अबुध-अज्ञानी प्राणियों को आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये विकल्प उठने पर मैं कथन भेदरूप व्यवहार द्वारा उसका उपदेश करूँगा; अर्थात् उपदेश में तो व्यवहार से-भेद से कथन आयेगा; परन्तु निश्चयस्वरूप के आश्रय से ही कर्मों का क्षय होता है; इसलिये निश्चय स्वरूप का अवलम्बन ही हमें बतलाना है; व्यवहार से कथन आयेगा, उसमें भी व्यवहार का अवलम्बन कराने का हमारा आशय नहीं है; हमारा आशय तो शुद्धनय का अवलम्बन कराके शुद्धात्मा का अनुभव कराना है, क्योंकि उसी के आश्रय से कर्मक्षय होता है। कर्म का क्षय कहो या आत्मशांति की प्राप्ति कहो, वह शुद्धात्मा के आश्रय से ही होती है।

देखो, यह आत्मशांति का उपाय! यह शांतिनाथ भगवान का धाम है, उसमें आत्मा की शांति का उपाय बतलाया जा रहा है। शांति का नाथ, शांति का भंडार सचमुच तो यह आत्मा ही है; इसलिये आत्मा ही 'शांतिनाथ' भगवान है; उसके आश्रय से अपूर्व शांति का वेदन होता है। अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भगवान (सिद्ध भगवान या अरिहंत भगवान) जीव को दर्शन देने नहीं आते; क्योंकि सिद्धभगवान तो शरीर रहित हो गये हैं और अरिहंत भगवान तो इस समय विदेह-क्षेत्र में विराजमान हैं; इसलिये वे भगवान यहाँ दर्शन देने नहीं आते; किन्तु उनके जैसा जो अपना चैतन्यस्वभाव है, उसका भान (सम्यग्दर्शन) करके तथा उसकी साधना करके यह आत्मा स्वयं परमात्मा बनकर सिद्धालय में जाता है। आचार्यदेव आत्मा की ऐसी प्रभुता बतलाते हैं कि हे जीवो!

तुममें तुम्हारी प्रभुता विद्यमान है, किन्तु उसकी सावधानी (विश्वास और एकाग्रता) के बिना जीव संसार में भ्रमण करके दु:खी हो रहा है। अंतर में शुद्धनय द्वारा आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्रतीति में लेने से आत्मशांति प्राप्त होती है। बाह्य में शांतिनाथ भगवान के दर्शन-पूजा-भक्ति आदि का भाव आता है; धर्मात्मा को भी ऐसा भाव आता है; किन्तु वह शुभभाव है; उसकी मर्यादा पुण्यबंधन कराने जितनी ही है; मोक्ष की प्राप्ति अथवा आत्मशांति उससे नहीं होती। आत्मशांति या मुक्ति तो शुद्धनय द्वारा अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से ही होती है।

जो जीव आत्मस्वरूप को समझने का अत्यंत जिज्ञासु है, उसे श्रीगुरु शुद्धात्मा समझाते हैं; किन्तु उस शिष्य को शुद्धनय का अनुभव न होने से उसे समझाने के लिये भेदरूप व्यवहार से उपदेश देते हैं। उपदेशक गुरु का आशय भेद में अटकाने का नहीं है तथा जिज्ञासु शिष्य भी उस भेद के विकल्प में नहीं रुकता, किन्तु भेद से हटकर अभेद स्वभाव को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। ऐसे जिज्ञासु को शुद्ध आत्मा की शांति का अपूर्व वेदन होता है।

आबाल वृद्ध सभी इस चैतन्यस्वरूप का भान करके उसकी शांति का वेदन कर सकते हैं; हिंसादि तिर्यंचों को या नारकियों को भी चैतन्य की अतीन्द्रिय शांति के अंश का वेदन हो सकता है। प्रत्येक आत्मा शांतिस्वभाव से परिपूर्ण परमात्मा है। भाई! संत तुझे अपना परमात्मस्वरूप बतलाते हैं। तेरी शांति तुझमें ही भरी है; वह कहीं बाहर से नहीं आती; तथा बहिर्मुख विकल्पों में से भी शांति नहीं आती; राग से पार होकर चैतन्यस्वरूप में अंतर्मुखता से ही अपनी अतीन्द्रिय शांति का वेदन होता है।

शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव गुण-गुणी भेद से उपदेश देते हैं कि 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सदैव प्राप्त हो, वह आत्मा है।' तेरा आत्मा सदैव दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप में परिणमित हो रहा है। देह को प्राप्त हो, वह आत्मा—ऐसा नहीं कहा; राग को प्राप्त हो, वह आत्मा—ऐसा भी नहीं कहा, क्योंकि वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है; आत्मा का सच्चा स्वरूप तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; उस स्वरूप के साथ आत्मा त्रिकाल एकमेक है। ऐसी आत्मा की बात सुनते ही उसे समझने के लिये टकटकी लगाकर देखता रह जाता है अर्थात् ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने का प्रयत्न करता है। अहो! यह कोई मेरे अपूर्व हित की बात मुझे समझा रहे हैं—इसप्रकार उसकी महिमा लाता है, और समझ में न आये तो अरुचि नहीं करता, किन्तु उसकी महिमा लाकर समझने का आंतरिक प्रयत्न करता है। संत जो कहते हैं, उसका धैर्यपूर्वक तीव्र जिज्ञासा से अनुसरण करना

चाहता है। अहा! इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात में किसी अपूर्व शांति के दर्शन होते हैं; संत मुझे अपनी अपूर्व शांति का उपाय बतलाते हैं—इसप्रकार अतिशय बहुमान लाकर ज्ञान-दृष्टि को (मति, श्रुतज्ञान को) अंतरोन्मुख करके शुद्धनय द्वारा टकटकी लगाकर चैतन्यस्वरूप देखता है। यह दर्शनमोह का क्षय करके अपूर्व चैतन्यशांति प्राप्त करने का उपाय है। शांतिनाथ भगवान भी इसी प्रकार आत्मा की पूर्ण शांति को प्राप्त हुए और शांति के लिये उन्होंने जगत् को इसी मार्ग का उपदेश दिया... इसलिये जो आत्मशांति चाहते हों, ऐसे मुमुक्षुओं को शुद्धनय द्वारा इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम मुमुक्षु हैं और शुद्धनय द्वारा चैतन्यस्वरूप का अनुसरण करते हैं। अन्य जो जीव मुमुक्षु हों, उनके लिये हमारा उपदेश है कि हे मुमुक्षुओं! तुम भी शुद्धनय द्वारा अपने आत्मा का अनुसरण करो... उस शुद्धनय के अवलम्बन द्वारा ही कर्मक्षय होता है। किन्हीं व्यवहार की रुचिवाले जीवों को शुद्धनय के आश्रय की यह बात न रुचे तो मुझे मुमुक्षु जानकर क्षमा करना... क्योंकि मैं तो मुमुक्षु (मोक्ष का अभिलाषी) हूँ; इसलिये जिससे मोक्ष हो, वही बात मेरे उपदेश में आयेगी। हमें राग की रुचि नहीं है तो राग के अवलम्बन का उपदेश हमारी वाणी में कैसे आयेगा? पद्मनंदि पच्चीसी में ब्रह्मचर्य का खूब उपदेश देकर विषय के लोलुपी जीवों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि हे विषयांध प्राणियों! विषयों के तीव्र प्रेम के कारण यदि तुझे यह ब्रह्मचर्य का उपदेश न रुचे तो मुझे मुनि जानकर क्षमा करना... क्योंकि मैं मुनि हूँ; विषयों से पार चैतन्य के आनन्द की साधना करनेवाले मुनि की वाणी में तो ब्रह्मचर्य और वीतरागता का ही उपदेश होता है; विषय-कषाय के सेवन का उपदेश वीतराग की वाणी में कैसे होगा? अरे मूढ़ प्राणियों! बाह्य विषयों में सुख की कल्पना तो महान भ्रमणा है; बाह्य विषय स्वप्न में भी शांति देने में समर्थ नहीं हैं। बाह्य विषयों के अवलम्बन द्वारा अथवा रागादि बाह्य वृत्तियों द्वारा कभी चैतन्य-शांति का वेदन नहीं होता। चैतन्य-शांति का वेदन तो शुद्धनय द्वारा अंतर्मुख होने से ही होता है। यही धर्म है, यही शांति का मार्ग है और यही शांतिनाथ भगवान की सच्ची यात्रा है।

शुद्ध आत्मा का आदर

[सोलापुर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन; फाल्गुन शुक्ला १३]

समयसार के प्रारम्भ में 'नमः समयसाराय' कहकर आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा का आदर करके उसे नमस्कार किया है। पहली बार में ही मोक्षार्थी को शुद्ध आत्मा का आदर आना चाहिये। शुद्ध आत्मा का आदर करके उसकी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। जीव ने पूर्व अनन्तकाल में शुद्ध आत्मा का आदर या प्रतीति कभी नहीं की। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, तथा उसकी क्या रीति है—यह बात भी कभी जीव ने यथार्थ पात्रतापूर्वक नहीं सुनी। यहाँ आचार्यदेव वह बात समझाते हैं।

जिसे नमस्कार किया, जिसका आदर किया, वह शुद्ध आत्मा कैसा है?—चित्स्वभावी वस्तु है; 'भाव' कहने से वह सत् वस्तु है और 'चित्स्वभाव' कहने से चैतन्य उसका गुण है; तथा अपने को अपनी स्वानुभूति से ही प्रकाशित करता है—जानता है—अनुभव करता है, वह उसकी क्रिया (पर्याय) है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को पहिचानकर उसे नमस्कार किया है।

देखो भाई! जीव ने अनन्त बार चारों गति के अवतार धारण किये हैं; उनमें देव और नारकी, राजा और रंक, चींटी और हाथी अनन्तबार हुआ है; किन्तु शुद्ध आत्मा का भान कभी एक क्षण भी नहीं किया; इसलिये वह दुर्लभ है। संसार में सब कुछ सुलभ है किन्तु एक आत्मज्ञान ही दुर्लभ है। जीव को पूर्व भवों में अनन्तबार महान वैभव प्राप्त हो चुका है; इसलिये उसे सुलभ कहा है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वकाल में कभी प्राप्त नहीं हुए, इसलिये उन्हें दुर्लभ कहा है; तथापि वह सम्यग्दर्शन आत्मा के अपने स्वभावाधीन है और स्वाधीन होने से सुलभ है। परवस्तु की प्राप्ति आत्मा के आधीन नहीं किन्तु पराधीन है, इसलिये वह दुर्लभ है। एक क्षण भी अन्तर में शुद्ध आत्मा को पहिचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो स्वानुभव से विश्वास हो जाये कि अब मेरे जन्म-मरण का अन्त आ गया है... अन्तर के स्वानुभव में सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ जाता है।

अरे जीव! तू आत्मा को भूलकर अनादिकाल से चार गति के अनन्त अवतार में भटक रहा है। भगवान! क्या अभी भी तुझे थकान मालूम नहीं होती?—यदि तू संसार भ्रमण से थक गया हो

और चैतन्य की निर्विकल्प शांति का वेदन करना चाहता हो तो उसका उपाय यह है कि तू अपने शुद्ध आत्मा को जान। शुद्ध आत्मा स्वानुभूति से ही प्रकाशमान होता है; स्वानुभूति वह संवर-निर्जरा है; उसके द्वारा आत्मा सर्वज्ञ होता है। पुण्य-पाप या आस्रव-बन्ध द्वारा शुद्ध आत्मा प्रगट नहीं होता; इसलिये जो मोक्षार्थी हों, वे सर्व प्रथम शुद्ध आत्मा को जानकर उसका आदर करें। प्रथम कलश में ही 'समयसार' कहकर शुद्ध जीवतत्त्व बतलाया; 'स्वानुभूति' कहकर संवर-निर्जरा तत्त्व बतलाये, और 'सर्वभावान्तरच्छिदे' कहकर सर्वज्ञतारूप मोक्षतत्त्व बतलाया। आस्रव-बन्ध या पुण्य-पापरूप हेय तत्त्वों को उसमें नहीं लिया—शुद्ध आत्मा में उनका अभाव है।

इस १७-१८ वीं गाथा में आचार्य भगवान शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का उपाय दर्शाते हैं कि—हे मोक्षार्थी जीवों! पहली बार में ही तुम शुद्ध आत्मा को जानो। पहले व्यवहार करते-करते फिर आत्मा का ज्ञान हो जायेगा—ऐसा नहीं है; यानी पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। शुभरागरूप व्यवहार तो पराश्रित है और वह पुण्य बन्ध का कारण है, अर्थात् वह बन्ध का ही कारण है किन्तु मोक्ष का कारण नहीं है; और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह आत्माश्रित है; वह बन्ध का कारण नहीं है; मोक्षमार्ग तो वीतराग है और वह मोक्ष का ही कारण है। मोक्षमार्ग में पुण्य बन्ध नहीं होता। यदि मोक्षमार्ग से भी कर्म बन्धन हो, तो उसका छुटकारा काहे से होगा? मोक्षमार्ग कहो या धर्म कहो, उससे बन्धन नहीं होता। मोक्षमार्ग के फलस्वरूप बाह्य संयोगों की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु असंयोगी चैतन्यस्वभाव मिलता है। संयोग कहीं जीव को शरणरूप नहीं होते, स्वभाव ही शरणभूत होता है। मृत्यु काल में कोई करोड़ों रुपयों का ढेर लगाकर प्रार्थना करे कि—हे पैसा! अब तुम्हीं मुझे शरणभूत हो, तो क्या पैसों का ढेर उसे शरण देगा?—नहीं; वह तो जड़ है; कोई भी बाह्य संयोग जीव को शरणभूत नहीं होता; अपना स्वभाव ही शरणभूत है। यदि संयोग दृष्टि छोड़कर अन्तर के चिदानन्दस्वभाव के निकट जाकर उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-रमणता) करे तो वह शरणभूत होकर जीव को अतीन्द्रिय शांति प्रदान करता है।

इसप्रकार मोक्षार्थी जीव जानता है कि अहो! मेरा शुद्ध आत्मा ही मुझे शरण है, मैं उसी का आदर करता हूँ। बाह्य भावों का अनन्तकाल तक सेवन किया; अब उनका आदर छोड़कर मैं अपने अन्तर्स्वभावोन्मुख होता हूँ; शुद्ध आत्मा में ढलकर उसका आदर करता हूँ; उसी को नमस्कार करता हूँ। देखो, यह मोक्षार्थी जीव का कर्तव्य! यही धर्म की रीति है और इसी रीति से मोक्षार्थी जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

बंध-मोक्ष का संक्षिप्त सिद्धान्त

[प्रवचनसार गाथा १८९ से १९१ तक के प्रवचनों से...]

(१) प्रश्न—बंधन का संक्षिप्त सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर—मोह-राग-द्वेषभाव से जीव अकेला ही बँधता है, इसप्रकार अर्हंतदेव ने बंधन का संक्षिप्त सिद्धान्त कहा है।

(२) प्रश्न—अर्हन्तदेव ने ऐसा कहा है, इस बात की कुन्दकुन्दाचार्य को कैसे खबर पड़ी ?

उत्तर—महाविदेहक्षेत्र में इस समय सीमंधर परमात्मा विराज रहे हैं; वहाँ जाकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, तथा गुरु-परम्परा से भी उन्हें बहुत-सा ज्ञान प्राप्त हुआ था। अपने स्वानुभव से भी उनके ज्ञान में विशेष निर्मलता आ गई थी।

(३) प्रश्न—आत्मा काहे के द्वारा बँधा हुआ है ?

उत्तर—निश्चय से मोह-राग-द्वेषरूप अपने भावबंध द्वारा ही आत्मा बँधा है। जहाँ ऐसा निश्चय बंधन है, वहाँ निमित्तरूप से कर्म का बंधन है, वह व्यवहार है।

(४) प्रश्न—कर्म के कारण आत्मा को भावबंध है, यह बात सच है ?

उत्तर—नहीं; यह बात विपरीत है। यदि कर्म के कारण भावबंध होता ही रहे, तब तो आत्मा सचमुच पराधीन हो गया; बंधन से छूटने का कोई अवसर ही उसे नहीं रहा।

(५) प्रश्न—तो वास्तव में जीव को बंधन किसप्रकार है ?

उत्तर—जीव को वास्तव में अपने मोह-राग-द्वेष भाव से ही बंधन है। जो जीव स्वयं अपने अपराध से मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमित होता है, वही बँधता है; जो जीव मोह-राग-द्वेष नहीं करता, वह बँधता नहीं है। कर्म तो अन्य वस्तु है; आत्मा को उसका बंधन कहना व्यवहार से है।

(६) प्रश्न—भावबंध का कर्ता द्रव्यकर्म ही है या अन्य कोई ?

उत्तर—भावबंध का कर्ता द्रव्यकर्म नहीं है, किन्तु मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमित जीव स्वयं ही अपने भावबंध का कर्ता है। जीव स्वयं अकेला ही अपने बंध या मोक्ष का कर्ता है, अन्य कोई कर्ता नहीं है।

(७) **प्रश्न**—निश्चयनय से आत्मा अपने बंध-मोक्ष का कर्ता है ऐसा कहा, और व्यवहारनय से आत्मा कर्म के बंध-मोक्ष का कर्ता है-ऐसा कहा; तो इन दो नयों में से यहाँ कौन-सा नय ग्रहण करना ?

उत्तर—यहाँ निश्चयनय साधकतम होने से वह ग्रहण किया गया है। व्यवहारनय तो पर के साथ सम्बन्ध बतलाता है; इसलिये उसके ग्रहण द्वारा पर से भिन्न आत्मा का ग्रहण नहीं होता; और निश्चयनय आत्मा को पर के सम्बन्ध रहित बतलाता है, इसलिये उसके ग्रहण द्वारा पर से भिन्न आत्मा का ग्रहण होता है, इसलिये निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है।

(८) **प्रश्न**—यहाँ निश्चयनय को साधकतम कहा है, तो उसका साध्य क्या है ?

उत्तर—परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न जानना, वह यहाँ साध्य है। आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानने पर, स्वद्रव्य की सन्मुखता से शुद्धता की प्राप्ति होती है।

(९) **प्रश्न**—जो जीव व्यवहार को ही ग्रहण करता है, उसे क्या होता है ?

उत्तर—व्यवहारनय आत्मा को पर के साथ सम्बन्धवाला बतलाता है, इसलिये जो व्यवहारनय को ही ग्रहण करता है, उसे पर के साथ सम्बन्धवाले अशुद्ध आत्मा का ही ग्रहण होता है, किन्तु पर से भिन्न शुद्ध आत्मा का ग्रहण उसे नहीं होता। इसलिये व्यवहारनय का ही जो ग्रहण करता है, उसे पर के प्रति मोह उत्पन्न होता है।

(१०) **प्रश्न**—निश्चयनय के अनुसार पर से भिन्न आत्मा को जो नहीं जानता और व्यवहारनय को पकड़कर आत्मा को पर के साथ सम्बन्धवाला ही मानता है, वह जीव कैसा है ?

उत्तर—आचार्यदेव कहते हैं कि वह जीव परद्रव्य में ममत्व रखनेवाला है, तथा वह अशुद्ध आत्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय करता है। यह पर से भिन्न शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं करता, किन्तु पर के साथ सम्बन्धवाले अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

(११) **प्रश्न**—तो फिर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति किसप्रकार होती है ?

उत्तर—"मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है, मैं एक ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो जीव पर से भिन्न आत्मा को ध्याता है, उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् अनुभव होता है और इसप्रकार शुद्धात्मा का अनुभवन करता हुआ वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।

जिसे भव की थकान उतारना हो

जिसे अनादिकालीन भवभ्रमण की थकान लगी है, तथा जो आत्मा की लगनपूर्वक किसी भी प्रकार आत्महित साधना चाहता है—ऐसे जीव के लिये यह बात है। चाहे जैसा उच्च प्रकार का भोजन हो, किन्तु जिसे भूख ही नहीं लगी हो, उसे कैसे भायेगा? उसीप्रकार जिसे भव की थकावट का अनुभव नहीं होता, तथा आत्मा की भूख नहीं लगी है, उसे तो आत्मा के आनन्द की बात सुनने में भी अच्छी नहीं लगती; उसकी रुचि जागृत नहीं होती; किन्तु जो जीव भवदुःख से थक गया है जिसे आत्मशांति की तीव्र क्षुधा जागृत हुई है कि—'अरे रे! यह आत्मा भवदुःख से छूटकर चैतन्य की शांति कब प्राप्त करेगा!'—वह आत्मा के आनन्द की यह अपूर्व बात अपूर्वरुचि से श्रवण करके समझ जाता है; और उसके भव की थकान उतर जाती है, उसे आत्मा की अपूर्व शांति का अनुभव होता है। जिसे भव की थकान लगी हो, तथा आत्मा के सुख की भूख जागृत हुई हो, उस भूखे के लिये तो यह अमृत है; इस अमृत से अनन्त भव की क्षुधा शांत होकर अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

[-प्रवचन से]

मेरा क्या ?

आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप भावों का ही स्वामी है और वे ज्ञान-दर्शन-आनन्द के भाव ही आत्मा का स्व है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी आत्मा का स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं है।

इस जगत में मेरा क्या है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है, उसके भान बिना, पर को अपना मानकर पर के साथ सम्बन्ध जोड़कर जीव संसार में भटक रहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तेरा 'स्व' क्या है और वास्तविक सम्बन्ध किसके साथ है उसे पहिचान। ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जो तेरे भाव हैं, वही तेरा स्व है और उसी का तू स्वामी है—ऐसा जानकर अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ और पर के साथ का सम्बन्ध तोड़; अर्थात् स्व से एकत्व कर और पर से विभक्त हो।—ऐसे एकत्वविभक्तपने में ही तेरी शोभा है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।